लेख

स्वर और स्वाद

जया श्रीवास्तव

अपनी भाषा में इन दो शब्दों- स्वर और स्वाद का 'स्व' यानी 'स्वयं' से शुरू होना मायने रखता है। दोनों का अपनी 'खुदी' से गहरा रिश्ता है। दोनों ही इंन्सान की महानुभूतियों से यानी अन्दरूनी अहसासों से जुड़ी हुई है। अपने मन पसन्द भोजन और अपना कर्ण-प्रिय गायन हमें बरबस खींच लेते हैं, हमारी चेतना को झन्कृत कर कई नैसर्गिक तृष्णाओं को तृप्त करते हैं।

दोनों अनुभवों का हमारी कुछ प्रमुख इन्द्रियों से सम्बन्ध है। दोनों के लिए अहम् है जीभ या जिह्वा। आवाज़ और ज़ायके, दोनों काफी हद तक जिह्वा से जुड़े हुए हैं। और जिह्वा चेतन-शक्ति का अभिन्न अंग है। इन्द्रियों की महसूसियत को देखते हुए भोजन के लिए सूंघने का और गायन-वादन के लिए सुनने की अनुभूतियों का भी ख़ासा महत्व है।

रोटी सिंकने की, बघार लगने की या प्याज़ भुनने की, महक बता देती है कि क्या व कैसे पक रहा है। सही तौर से सुने बिना संगीत न तो सीखा जा सकता है न सुनाया जा सकता है। तो सूंघना और सुनना इन दोनों कलाओं के लिए ज़रूरी है। स्वर और स्वाद का करीबी रिश्ता हमारे ज़ेहन से जुड़ा हुआ है। और जो इन्सान के जज़्बात के इतने नज़दीक हो उन्हें हम जात-धर्म के किन दराज़ों में बांट सकते हैं?

यह महज इत्तिफ़ाक नहीं है कि हमारे यहां के बहुत से संगीतज्ञ गायन-वादन की उत्कृष्टता के साथ-साथ स्वादिष्ट रसोई भी बनाते आए हैं। वे जितने प्रेम से सुनाते-सिखाते हैं उतने ही प्यार से पकाते-खिलाते भी हैं। दोनों कलाओं की नफ़ासत उनके लिए एक सी हो जाती है। जितने तौर-तरीकों से राग तोड़ी का आह्वान किया जाता है। उतने ही विधिपूर्वक शलगम की सब्ज़ी भी बनाई जाती चाहिए।

मेरी गुरु माधुरी मट्टू एक ओर राग आनंद भैरव के बारीक़ बहलावे "कहलवाती" हैं तो दूसरी ओर भुनते बेसन की भीनी खुशबू का अन्दाज़ा लेती हैं। जैसे धैर्य व ध्यान के साथ आनंद-भैरव के दोनों निषादों का कोमल रिषभ के साथ लाग-लपेट सिखाती हैं, वैसी ही लगन और प्रेम से, भुने बेसन में घी-इलायची की खुशबू समेट कर जी को तर कर देने वाले लड्डू तैयार करती हैं। शागिर्द को गायकी के 'सबक' देना और उसे अपने हाथ की बनी चीज़ खिलाना दोनों ही उनके धर्म का हिस्सा है।

स्वर और स्वाद, गाने और खाने की दुनिया के अपने रंग-रूप हैं, अपने रस-धर्म हैं जो विभिन्न प्रकार के लोगों को अपने सागरों में गोते लगाने का न्योता देते रहते हैं। अपने प्रिय रसास्वादन के लिए अलग-अलग जात और धर्म, लिंग और वर्ग, देश और प्रदेश के लोग तत्पर रहते हैं। इस साझेपन की धुरी होती है अपनी पसन्द, वो भाव-रस जो बरबस खींचता है। एक तरह के ज़ायके, एक तरह के संगीत विविध शख्सियतों को एक डोर में बांधते है, एक सूत्र में पिरोते चलते हैं। भोजन और संगीत बहुत सी सीमाओं को तोड़कर अपनी जमात बना लेते हैं। एक तरह की रुचि व रुझान वाले, अलग-अलग धर्म-सम्प्रदाय के व्यक्ति इसमें शरीक होते रहते हैं।

एक इलाके में जीने-रहने वाले अलग-अलग धर्म-जात के लोग बहुधा खान-पान-गान के मामलों में एक प्रकार की परम्परा और संस्कृति को सींचते चलते हैं। वो हो सकते हैं रोज़मर्रा की दाल-भात-तरकारी बनाने के तरीके और अन्न का चुनाव, गाने-बजाने की बोली और ढंग, वाद्य और बर्तन। एक भौगोलिक परिस्थिति में रहकर बहुत सी चीज़ों का ढर्रा एक सा हो जाता है।

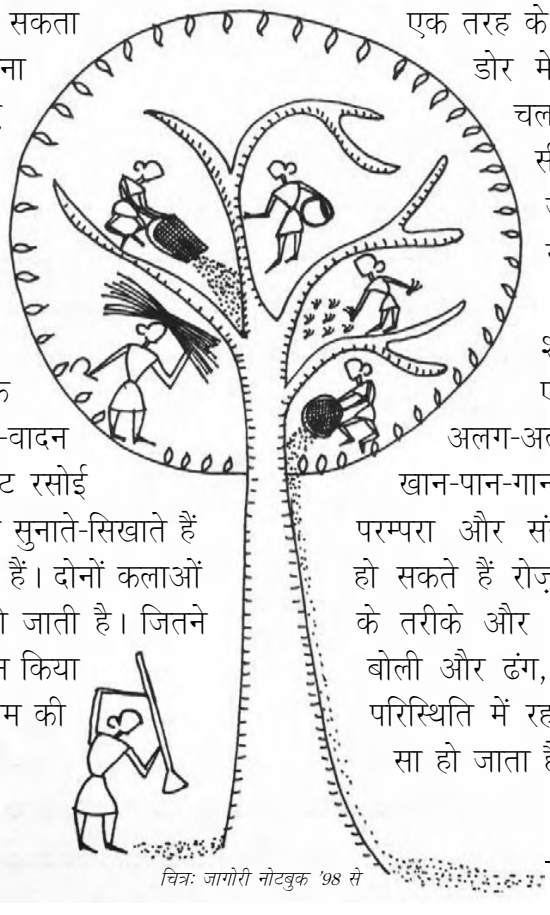

चित्रः जागोरी नोटबुक '98 से

लेकिन ये भी होता है कि दूर-दराज़, अलग-अलग कौमों के लोग भी अक्सर उनमें अपनी पसन्द व अपनापन पाते हैं। दोसा और समोसा, बिरयानी और तन्दूरी मुर्ग देश-विदेश के कितने सारे कोनों में, कितने तरह के लोगों की मन पसन्द चीज़ें बन गए हैं। चीन के चाऊमीन और चिली-चिकन, युरोप के केक और पुडिंग सारी दुनिया की पसन्द बन गये हैं। अगर पंडित रविशंकर और बड़े गुलाम अली खां के गायन-वादन ने पाश्चात्य रसिकों को आकृष्ट किया है तो हमें भी वीथोविन और मोत्ज़ार्ट के संगीत ने बांधा है। मुंबई में जन्मे-पले जुबीन मेहता दुनिया भर में पाश्चात्य शास्त्रीय संगीत के जाने-माने कन्डक्टर हैं। उन्हें उत्साह प्यार आदर अपने देश में भी मिला है और बाहर भी।

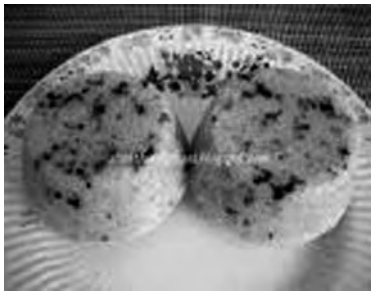

भारतीय संस्कृति, खासकर उत्तर भारत के शास्त्रीय संगीत और पाक-कला के चलन और प्रक्रिया में बहुत सारी समानताएं हैं। स्वर और स्वाद दोनों की खूबसूरती हौले-हौले ही, छेड़ते-छौंकते निखारी जाती है। सब कुछ एकबारगी ही नहीं परोस दिया जाता। खाने और सुनने में भी असली रस तत्व तब मिलता है जब हम इत्मीनान से बारीकियों का मज़ा लेते हैं।

किसी पकवान को बनाने में घी-तेल, मसाले, साग-सब्ज़ियां, अनाज आदि कौन सी, कब, किस मात्रा में, किस क्रम से किस तापमान पर डाले-पकाए जाए यह अनुभव और परम्परा तय करते हैं। अच्छी रसोई के लिए सारी की सारी चीज़ें एक साथ ही पकने को नहीं चढ़ा दी जातीं।

इसी प्रकार हिन्दुस्तानी संगीत में किसी राग-विशेष में सारे स्वर, सारे बोल एक बारगी ही नहीं पेश कर दिए जाते। हाल ही में दिवगंत हुई ख्याल गायकी की महिषी गंगूबाई हंगल ने अपने गुरू सवाई गन्धर्व को उद्घृत करते हुए कहा था कि स्वरों को इस्तेमाल ऐसे करो जैसे कंजूस आदमी पैसे का करता है। किसी राग में कौन से स्वर, कब, किस जगह, किस वज़न के साथ, किस श्रुति की भनक लिए, कैसे लगे यह गुरू-उस्ताद परम्परा से धीरे-धीरे सीखा और प्रयोग किया जाता है।

पकाने और गाने-बजाने दोनों कलाओं में ये सारी चीज़ें पीढ़ियों के प्रयोग और रियाज़ की देन होती हैं। और आज व कल की पीढ़ियां भी उनमें अपना योगदान देती चलती हैं। हमारी महसूसियत बताती है कि किन मसालों-बघारों, किन स्वर-बिम्बों को भूनते-छेड़ते, कौन सी खुशबू, कौन से रस हमारे दिल-ओ-दिमाग को छू लेते हैं।

दोनों कलाएं रचना की विविधता को पूरी जगह देती हैं। एक खाके, एक विरासत की मर्यादा में रहते हुए उनकी डोर थामे हुए, कल्पना की पतंग आसमान के सुदूर कोनों तक उड़ाने भर सकती है। अपनी परिधि की इज़्ज़त करते हुए एक रसोइया, एक गायिका अपने व्यक्तित्व के अनुसार नए-नए रंग भरते हैं।

यह भी मानी हुई बात है कि राग हो या रसोई हर बार मन माफ़िक बन ही जाए यह ज़रूरी नहीं। वही गायक/वादक हो, वही राग हो, वही बंदिश हो और वही पद्धत हो। फिर भी हो सकता रंग-रूप कुछ बदला हो। वही हाथ, वही अन्न, वही मसाले ज़रूरी नहीं कि किसी पकवान को हर बार बिल्कुल एक जैसा बनाएं।

मध्यकाल के रीतिकालीन कवि केशवदास की ये उक्ति हमेशा प्रासंगिक लगती है। पगड़ी को हम भले ही आज सजने-संवरने के अर्थ में ले लें, पर

राग-रसोई पागरी, कबहुं-कबहुं बनि जाई।।

तबीयत से गाने और तबीयत से पकाने की बात हम ज़माने से सुनते आ रहे हैं। राग रसोई और पगड़ी कभी-कभी ही सुन्दर बनते हैं। लज़ीज़ पकवान और असरदार गायकी हर बार नहीं हासिल होती। लेकिन जब मिलती है तो मज़ा आता है, सुकून मिलता है।

दोनों का कला-पथ प्रशस्त है। असीम गुन्जाइशों के साथ भाव-रस की एकात्मकता है। ज़िन्दगी के सहज आनन्द के लिए, उसमें सामन्जस्य के लिए इनकी भूमिका अहम हो जाती है। शहनाई के सूफी उपासक स्व. उस्ताद बिस्मिल्लाह खान कहते थे- "बच्चों को कुछ भी बनाना, लेकिन उन्हें शास्त्रीय-संगीत की सरगम ज़रूर सिखा देना।

संगीत आदमी को इन्सान बना देता है। संगीत की कोई धर्म या जाति नहीं होती।"

जब हम सुन्दर गीत सुनते हैं या स्वादिष्ट भोजन का आनन्द लेते हैं तब तो नहीं सोचते कि ये किस जात, धर्म या लिंग के व्यक्ति की रचना है? महत्वपूर्ण होता है उस चीज़ की खूबसूरती और उससे उपजा आनन्द।

मुहम्मद रफ़ी और आशा भोंसले, फ़रीदा ख़ानम और जगजीत सिंह के गीत-गज़ल सुनते वक्त हमें क्या खींचता है- पेश की गई चीज़ का दिलक़श होना या गायक का हिन्दू या मुसलमान होना, औरत या मर्द होना? कबीर का निर्गुण दर्शन, कुमार गन्धर्व और आबिदा परवीन की स्वर-पुकारों में जब साकार होता है तो याद रह जाती है मन को मथ देने वाली स्वर-शब्द की मधु-बूंद न कि उनका स्त्री या पुरुष होना, हिन्दू या मुसलमान होना। तुलसी के भजन और शक़ील की ग़जलें हम गाने वालों के लिए दोनों की अपनी सुन्दरता है। काव्य के साथ आवाज़ का प्रभावशाली होना अपनी हस्ती खुद है, अपनी पहचान खुद है।

अगर हम कुछ इलाकों को देखें तो रसोई की कई परिपाटी समाज के विभिन्न वर्गों में पाई जाती है। एक ही व्यंजन कई जात-धर्म के लोगों को प्रिय है। जैसे पूरे बिहार, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश के कुछ अंचलों में गोंइठा या कण्डे की आग में आटे की लिट्टी, बाटी या गक्कड़ भी बनाने-खाने का पुराना रिवाज रहा है। कहीं सत्तू भर के, तो कहीं सादा। साथ मे बैंगन का भर्त्ता हो, चटनी हो और हो सके तो घी हो। अब शहरों में अक्सर तवे पर भी बना लेते हैं। आकर्षक होती है उसकी सोंधी महक और सत्तू वाले में अजवायन, लहसुन, मिर्च और सरसों-तेल का ज़ायका व खुशबू न कि ये किसने बनाया और किसने खाया। जिसे पसन्द है वह कहीं का, कोई भी हो सकता है। अगर जलेबी-समोसे की जमात देखने चलेगें तो कम से कम उत्तर भारत में इसके चाहने वाले हर वर्ग-धर्म जात-उम्र और लिंग से मिलेंगे।

ऐसे ही बिहार और बंगाल में सरसों वाली मछली घर-घर में बनती है। थोड़े-बहुत उलट-फेर के साथ। शायद सरसों पहले पड़े या लहसुन। ब्राह्मण, कायस्थ, कुर्मी-कहार, हिन्दू-मुसलमान सब चटखारे ले लेकर खाते हैं। मेरी मित्र सलमा रिज़वी के घर के कबाबों की खुशबू और ज़ायका मेरे घर के कबाबों से मिलता-जुलता था। पटना के इस तरह के बहुत से घरों में ब्याह और सोहर के वही-वही गीत भी गाए जाते थे। 'सेजों पे छूटी चन्दनहार' हम मज़े से साथ-साथ गाते थे और नए बोल भी जोड़ते चलते थे।

केरल में ओणम का त्योहार सभी लोग मनाते हैं- हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, गरीब-अमीर, औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े। घर-घर में प्रथम (नारियल-दूध और गुड़ का एक पकवान) एक ही विधि से बनता है- एक दिन दाल, एक दिन पके कटहल और एक दिन लाल केले के साथ। सभी के घरों में 'अड़ा' (भाप पर पकाया चावल का आटा) की सेंवई पकती है। धान नापने के बर्तन 'परा' में धान की सूपाकार ढेरी लगाई जाती है जो खुशहाली की प्रतीक बनकर, महाबली का स्वागत करे। एक ही प्रकार के गीत, एक ही प्रकार के खेल भी इस उत्सव के तहत हर परिवार में गाए-खेले जाते हैं। यह प्राचीन आदिवासी पर्व केरल की धरती पर रहने वाले हर प्राणी के जीवन से जुड़ा हुआ है। लाख कोशिशों के बावजूद राष्ट्रीय स्वयं सेवक इसे 'हिन्दू पर्व' नहीं बना पाया है।

इधर हिन्दुस्तानी संगीत के रूप अस्तित्व देखें तो कई मज़हबों, कई जातों, कई संस्कृतियों के मेल के बिना इसका उदय सम्भव ही न था। जिस रूप में आज ये साझी विरासत हमें मिली है, जो तक़रीबन पिछले पांच-सात सौ साल से विकसित हो रही है, उसके इन्द्रधनुषी रंग किसी एक धर्म या सम्प्रदाय ने नहीं बिखेरे। अमीर खुसरो, मियां तानसेन और स्वामी हरिदास, मुहम्मदशाह रंगीले, अदारंग और बैजू बावरा, उस्ताद वहीद खाँ साहब और पंडित ओंकारनाथ ठाकुर, फिरोज़ दस्तूर और माधुरी मट्टू, अल्लादिया खाँ साहब और केसर बाई, रामचतुर मलिक और विलायत खान- कितने पंडितों और उस्तादों की गिनती की जाए जिनके बिना आज का शास्त्रीय संगीत, संगीत नहीं बनता- स्वरों को सजाने-संवारने की वह मोहक पद्धत नहीं बनती जो आज भारतीय संस्कृति का इतना बड़ा स्तम्भ है। हम क्या कभी आंक सकते हैं या आंकना चाहेंगे कौन बड़ा कलाकार है- भीमसेन जोशी या अमीर खाँ, गंगूबाई हंगल या बेग़म अख़्तर? सभी सितारे एक से बढ़ कर एक। हरेक की रोशनी चुंधिया देती है। जिसे भी शास्त्रीय संगीत से प्रेम है वह हरेक का आसन अपने मन में एक ही ऊंचाई पर रखेगा।

'बंदिशों' पर नज़र डाले तो 'महादेव' और 'अल्लाह' 'करीम' और 'भवानी'-सबके ऊपर गीतों के बोल गढ़े गए हैं। हम अक्सर राग मधुवन्ती का आह्वान करते हैं काली-पूजन से-

जय काली कल्याणी, ज्वालामुखी चण्डी
जग जननी आदि ज्योति देवी भवानी।।

राग मुलतानी की आराधना करते हैं इस बंदिश से-

अल्लाह साहेब जमालए पायो सब में कमाल।।

अगर शिव-स्तुति 'दर्शन देहो शंकर महादेव' यमन कल्याण के दरवाज़े खोलती है तो 'करीम नाम तेरो' मियां मल्हार के बादलों को छूने का प्रयास करता है। ऐसी सैकड़ों परम्परा-जन्य बन्दिशें हैं जो दोनों धर्मों के ज़रिए राग को प्रगट करती हैं।

सभी जाने-माने सन्त-कलाकार संगीत को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। उनके लिए कृष्ण और काली, अल्लाह और रसूल एक ही थे। बिस्मिल्लाह खान से कुछ रसिकों ने अनुरोध किया "कैलिफ़ोर्निया (अमरीका) चलिए। शोहरत और पैसा इफ़रात मिलेगा।" खान साहब का सीधा सा जवाब था "अगर वहां गंगा का दशाश्वमेध घाट मिल जाए तो तैयार हूं।" शहनाई के सरताज बिस्मिल्लाह खान देश-विदेश में सभा सम्मेलनों में शिरकत करने गए लेकिन ताउम्र बनारस के अपने छोटे से घर में रहे और काफी शिद्धत से तकरीबन सौ व्यक्तियों के कुटम्ब का पालन-पोषण करते रहे।

ऐसी ही शख्सियत थी मैहर (मध्य प्रदेश) के बाबा अलाउद्दीन खाँ साहब की। अलीअकबर खान, पन्ना लाल घोष और रविशंकर जैसे पहुंचे हुए कलाकारों के वे गुरू थे। वो भी अपने मैहर की माँ शारदा को छोड़ अन्यत्र बसने को तैयार नहीं हुए। पहाड़ी पर मन्दिर था और उनकी दिनचर्या वहीं से शुरू होती थी। मन्दिर के भक्तों-पुजारियों के लिए बाबा और उनका सरोद-वादन पूज्य थे। बाबा ने अपनी बेटी का नाम अन्नपूर्णा रखा था जो पंडित रविशंकर की पहली पत्नी हैं। मैहर रियासत के हिन्दू राजा ने उनसे 'गण्डा' बंधवाया था और बाकायदा उनके चरणों में बैठकर तालीम लेते थे। ऐसे-ऐसे उदाहरण उत्तर भारत के कोने-कोने से दिए जा सकते हैं।

आज भी ऐसी परिपाटी जीवित है- सीखने-सिखाने, सुनने और संगत करने की। कलाकार की परख उसकी कला है न कि उसकी धर्म-जात। इस तरह के संगीत-आयोजन भी होते रहते हैं, आज का समाज और मीडिया भले ही कम ध्यान दे।

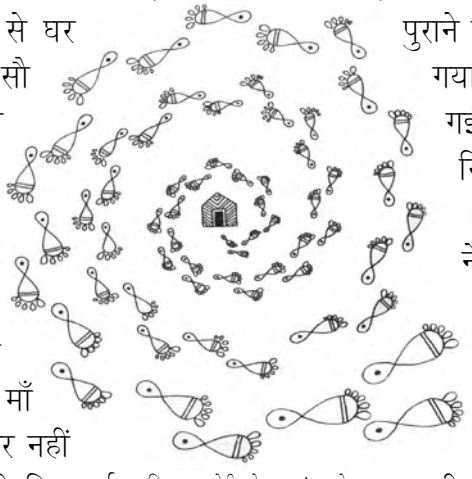

चित्रः जागोरी नोटबुक '98 से

अभी कुछ दिन पहले उस्ताद अलीअकबर खान का देहावसान हुआ। जोधपुर के ऐतिहासिक कृष्ण मन्दिर में पूर्व राजघराने के वंशज महाराजा गज सिंह की पहल पर एक श्रद्धान्जलि सभा का आयोजन किया गया। (देखिए जनसत्ता 22.7.2009)। गजसिंह के दादा महाराजा उम्मेद सिंह ने बाबा अलाउद्दीन को बतौर दरबारी संगीतज्ञ आमन्त्रित किया था। बाबा तो मैहर छोड़ते नहीं थे सो उन्होंने अपने युवा पुत्र अलीअकबर को भेज दिया। इसी कृष्ण मन्दिर में भक्त-गण अक्सर उनके सरोद-वादन का लुत्फ़ उठाते थे।

स्व. अलीअकबर की याद में भक्त व रसिक बेहद श्रद्धापूर्वक उसी मन्दिर में उनका नमन करने के लिए इकट्ठे हुए खुले फर्श पर बैठे। कृष्ण-मूर्ति के पास उनकी फोटो रखी गई। सभी लोग कृष्ण और उस्ताद के चरणों मे बैठे। अलीअकबर अपनी युवावस्था में जोधपुर में रहे थे इसलिए एक शीर्ष युवा-गायक का गायन हुआ। उस्ताद के पुराने सहकर्मी नरेन्द्र सिंह चाँदावत को नवाज़ा गया। और अन्त में इसी मंदिर में पेश की गई अलीअकबर की आख़िरी प्रस्तुति की रिकार्डिंग गूंज उठी।

जैसा कि लेख के लेखक राजेन्द्र बोड़ा ने लिखा है- "वहां शरीक़ लोगों को यह अहसास भी नहीं था कि वे भारत की गंगा-जमुनी संस्कृति का जीता-जागता उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। उन सबके लिए यह साझी शिरकत स्वाभाविक थी, स्वतः स्फूर्त्त थी क्योंकि सब रस-प्रेमी थे। नाद-समुद्र में गोते लगाने वालों के लिए जात-धर्म कोई मायने नहीं रखते।"

इस तरह के और भी उदाहरण हमारे इर्द-गिर्द बिखरे मिलेंगे जो गाने और खाने के रिवाजों के ज़रिए सबको जोड़ते चलते है। फ़र्क़ और खासियतों को सहेजते हुए, सामन्जस्य का रास्ता खुलता जाता है। अपनी-अपनी खूबसूरतियों को समझते-बांटते हम एक दूसरे को इज़्ज़त देते हैं। दूरियों का प्रश्न ही नहीं उठता। ये आत्मीयता होती है एक इन्सान होने के नाते एक राग या एक व्यंजन का आनन्द लेने की हैसियत से। यह आत्मीयता बहुत से अन्य फसलों को पाट देती हैं। समान रुचि समान भाव-रस दूरियों को दूर कर देते हैं।